सन् 2011–12 में जब हमारे देश की आबादी 120 करोड़ थी खाद्यान्न की माँग 218.9 मिलियन टन थी। वर्तमान में हमारी आबादी बढ़ कर 128.3 करोड़ हो गई है तथा खाद्यान्न की माँग 235.7 मिलियन टन की है और उम्मीद की जाती है कि सन् 2020–21 में हमारी आबादी 134.5 करोड़ हो जायेगी तथा सन् 2021 में और 40 मिलियन टन से लेकर 74 मिलियन टन तक 2026 में पूर्ति के कम होने की सम्भावना है। 2026–27 में खाद्यान्न उत्पादन की माँग भी 265.24 मिलियन टन हो जायेगी। यदि बढ़ती हुई जनसंख्या के भरण–पोषण के लिए कुल अनाज की माँग व पूर्ति की स्थिति को देखा जाए, तो सन् 2021 में 3 मिलियन टन और 2026 में 17 मिलियन टन माँग की अपेक्षा पूर्ति के कम होने का अनुमान है। दलहन, तिलहन और चीनी की स्थिति तो और भी गम्भीर होने वाली है, यानी माँग की अपेक्षा लगभग 24 मिलियन टन से लेकर 40 मिलियन टन तक ।

संक्षेप में, हमारी आज की सबसे बड़ी समस्या, जलवायु परिवर्तन के नकारात्मक प्रभावों के बावजूद, कम–से–कमतर होते संसाधनों द्वारा, अधिक–से–अधिक कृषि उपज प्राप्त करना है, ताकि हम बढ़ती हुई आबादी को भरपूर भोजन मुहैया करा सकें।

खेती–बारी में आने वाली समस्याओं को कम करने के लिए किसानों को वैज्ञानिक द्वारा विकसित नई तकनीकों को अपनाना पड़ेगा। इससे जलवायु परिवर्तन के नकारात्मक प्रभावों को कम करने के साथ ही साथ उत्पादकता में भी सतत विकास कर सकेंगें। विभिन्न उन्नतशील प्रजातियों के साथ–साथ कई नवीन सस्य–विधियों का विकास भी किया गया है जिनके प्रयोग से जल और ऊर्जा की बचत तो होती ही है, खेती में होने वाली लागत भी कम हो जाती है और उत्पादन बढ़ जाता है। जलवायु परिवर्तन के लिए कहीं न कहीं हम स्वयं भी जिम्मेदार हैं। अतः हमे भविष्य में ऐसा कुछ भी न करने का संकल्प लेना चाहिए जिससे कि पर्यावरण को कोई नुकसान पहुँचे। प्रकृतिक संसाधनों का दुरुपयोग नहीं होना चाहिए। फसल की सिंचाई नालियों या क्यारियों की सहायता से अथवा सिंचाई की आधुनिक पद्धतियों स्प्रींक्लर तथा ड्रिप सिस्टम से भी पानी की भारी बचत की जा सकती है। गाँव के तालाब, पोखरों और जलाशयों का पुनरुद्धार भूस्तरीय जल के भण्डार को बढ़ाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

जलवायु परिवर्तन के कारण हो रहीं नई–नई समस्याओं को शोध. संस्थानों व कृषि–विश्वविद्यालयों की शोध परियोजाओं में जोड़ने की आवश्यकता है तथा उनकों दूर करने हेतु उपायों को किसानों तक पहुँचाना भी अत्यन्त आवश्यक है। कृषि और कृषि से सम्बन्धित अन्य पहलुओं के सन्दर्भ में लागू सरकारी नितियों पर भी आज पुनः विचार करने की जरूरत है।

– राम कठिन सिंह
कार्यकारी निदेशक, नेफोर्ड, लखनऊ (उ.प्र.)

शून्य लागत प्राकृतिक कृषि पद्धति

प्राचीन काल से ही देश में कृषि होती आ रही है लेकिन कृषि पद्धति समय व आवश्यकता के अनुसार बदलती रही है। कृषि पद्धति बदलने का मुख्य कारण बढ़ती जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति करना और साथ ही साथ देश को आर्थिक क्षेत्र में आगे बढ़ाना है। ऐसी मान्यता है कि प्राचीन भारतीय कृषि लगभग 5000 वर्ष पहले भगवान श्री कृष्ण द्वारा शुरू की गयी जो गाय के गोबर की खाद पर आधारित थी तथा पूर्ण जैविक थी। एक अनुमान के अनुसार एक एकड़ क्षेत्रफल में लगभग 19 मैट्रिक टन गोबर की खाद की आवश्यकता होगी जिसके लिए 10 गाय पालनी या रखनी होंगी। देश में लगभग 45 करोड़ एकड़ खेती योग्य भूमि है, जिसके लिए 450 करोड़ गायों की आवश्यकता पड़ेगी जो करीब–करीब असम्भव है क्योंकि वर्तमान में सिर्फ लगभग 8 करोड़ गाये हैं। सिर्फ गोबर की खाद के प्रयोग से एक तो हानिकारक हरित गृह गैसें निकलती हैं, जो वातावरण को प्रदूषित करती हैं और दूसरा बढ़ती जनसंख्या की आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो पाती है। कृषि वैज्ञानिकों के प्रयास से अधिक पैदावार लेने के लिए 'हरित क्रांति' आयी जिससे बढ़ती जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव हुई और साथ ही साथ देश की आर्थिक स्थिति भी सुधरी। रसायनिक या हरित खेती में प्राकृतिक स्त्रोतों का काफी दुरूपयोग हुआ है। इस पद्धति में ज्यादातर पैसा विकसित देशों को जाता है क्योंकि ज्यादातर कृषि निवेश विदेशी ही होते हैं। इससे देश की आर्थिक स्थिति भी कमजोर होती है। प्राकृतिक पद्धति एक जापानी कृषक, मासानोबू फुकुओका द्वारा विकसित की गयी जिसमें सिर्फ बीज खेत में डालना था और फिर पकने के बाद काट लेना था जो सम्भव नही है। फिर एक पद्धति रसायनिक कृषि के बदले आई जिसे जैविक खेती कहते है। यह पद्धति कम्पोस्ट, फार्म की खाद और वर्मीकम्पोस्ट पर आधारित है। यह पद्धति रसायनिक कृषि से भी महंगी पड़ती है और विभिन्न प्रकार की हरित गृह गैसों को निकालती है जिससे पूरा वातावरण दूषित होता है। इसमें मिट्टी के अंदर प्राकृतिक रूप से उर्वरता ह्यूमस नहीं बनता है और मिट्टी के अंदर सूक्ष्म जीवाणु और देशी केचूओं के लिए प्रतिकूल परिस्थितियाँ पैदा करते हैं जिससे इनकी संख्या काफी घट गयी है।

उपर्युक्त कृषि पद्धतियों के गुण व अवगुण को ध्यान में रखते हुए एक नयी पद्धति हमारे ही देश के किसान श्री सुभाष पालेकर द्वारा विकसित की गयी है, जिसे शुन्य लागत प्राकृतिक खेती–कृषि कहते हैं। यह पद्धति शून्य लागत अर्थात् अपने घर में उपलब्ध कृषि वस्तुओं–इनपुट्स से की जाती है। शुन्य लागत प्राकृतिक कृषि में लागत को शून्य कहा जाता है क्योंकि मुख्य फसल का लागत अन्तर्वर्तीय फसलों के या मिश्र फसलों के उत्पादन से निकल जाता है और मुख्य फसल बोनस के रूप में मिल जाती है। फसलों की वृद्धि, विकास एवं उत्पादन के लिए जिन–जिन संसाधनों की आवश्यकता होती है, उन सभी को घर में ही उप्लब्ध कराना , किसी भी हालत में बाजार से कोई भी चीज न खरीदना एवं प्राकृतिक स्त्रोतों को नुकसान करने वाले संसाधन का निर्माण घर में न करना शून्य लागत प्राकृतिक खेती के मुख्य उद्देश्य हैं ।

इस पद्धति में यह माना जाता है की पौधों को बढ़ने के लिए जो संसाधन चाहिए वे सभी उनकी जड़ों के आसपास भूमि में और पत्तों के पास वातावरण में ही पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। हमारी भूमि अन्नपूर्णा कही जाती है क्योंकि पौधों को पर्याप्त भोजन उपलब्ध करवाती है। फसल पौधे 98 से 98.5 प्रतिशत आवश्यक पोषक तत्व हवा, पानी, व सूर्य की रोशनी से लेते हैं जबकि शेष मात्रा (1.5 से 2 प्रतिशत) भूमि से लेते हैं। अक्सर यह कहा जाता है कि भूमि में पोषक तत्त्वों की कमी है जिसकी पूर्ति

खाद व उर्वरक देकर की जाती है लेकिन जंगलों में एक से एक विशाल पेड़ हैं और बहुत सारी वनस्पतियाँ हैं जिसे न तो मानव देखता है और न किसी प्रकार की खाद व उर्वरक ही दिया जाता है । फिर भी वे फल, फूल आदि हम सभी को मुफ्त में प्रदान करते हैं। इससे यह साबित होता है कि हमारी भूमि में पोषक तत्व काफी मात्रा में उपलब्ध है।

रसायनिक खादों व दवाईयों के असंतुलित प्रयोग से भूमि में उपलब्ध सूक्ष्म जीवाणुओं की संख्या काफी कम हो गयी है। जीवाणुओं के खत्म होने से भूमि में उपलब्ध पोषक तत्व जो उपलब्ध रूप में नहीं होते हैं, उनके रुपान्तरण उपलब्ध रूप में नहीं हो पाते जिससे भूमि में पोषक तत्वों की कमी हो जाती है। इसके लिए भूमि में सूक्ष्म जीवाणुओं व देशी केचुओं की संख्या बढ़ानी पड़ती है जो शून्य लागत प्राकृतिक कृषि से ही संभव होता है।

– जनार्दन सिंह
चौ.स.कु. हिमाचल प्रदेश कृषि विश्वविद्यालय, पालमपुर (हि.प्र.)

पर्यावरण संरक्षण एवं टिकाऊ खाद्य सुरक्षा हेतु समेकित नाशीजीव प्रबन्धन (आई.पी.एम.)

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा विश्व जनसंख्या प्रवाह पर कराये गये एक सर्वेक्षण के अनुसार यह पूर्वानुमान किया गया कि वर्ष 2022 तक भारत की जनसंख्या चीन से अधिक हो जायेगी। वर्तमान में भारत की जनसंख्या लगभग 1.32 अरब है जो विश्व की कुल आबादी का 17.84 प्रतिशत है। हमारे देश का क्षेत्रफल विश्व के कुल भौगोलिक क्षेत्र का 2.4 प्रतिशत है तथा उपलब्ध जल स्रोत कुल जल स्रोत का 4 प्रतिशत है। वर्तमान जनसंख्या वृद्धि दर के दृष्टिगत हमें फसल का उत्पादन व उत्पादकता तो बढ़ानी ही होगी, साथ ही साथ खाद्य उत्पादों की गुणवत्ता भी ध्यान में रखनी होगी जिससे कि राष्ट्र की खाद्य एवं पोषण सुरक्षा को टिकाऊ बनाया जा सके।

हमारे देश में प्रतिवर्ष कीट–बीमारियों, खरपतवारों व चूहों आदि से लगभग 15–25 प्रतिशत तक की हानि आंकी गई है। अमेरिका व चीन के बाद भारत सबसे बड़ा कृषि रसायन उत्पादक देश है जिसके कुल उत्पादन का लगभग 50 प्रतिशत मांग घरेलू उपभोक्ताओं की होती है तथा शेष मात्रा निर्यात हो जाती है। वित्तीय वर्ष 2015 में इस क्षेत्र से लगभग 4.4 मिलियन डालर मूल्य की प्राप्ति हुई तथा ऐसा अनुमान है कि वित्तीय वर्ष 2020 तक यह राशि लगभग 7.5 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से वृद्धि कर 6.3 बिलियन डालर हो जायेगी। वर्तमान में भारत में प्रति हेक्टेयर कृषि रसायनों की खपत 0.6 कि.ग्रा. प्रति हे. है जो कि विश्व के अन्य देशों की तुलना में अत्यन्त कम है जबकि संयुक्त गणराज्य तथा चीन में खपत होने वाली मात्रा क्रमशः 5–7 कि.ग्रा. प्रति हे. तथा 13 कि.ग्रा. प्रति हेक्टेयर है।

समेकित नाशीजीव प्रबन्धन पर्यावरण अनुकूल नाशीजीवों के प्रबन्धन की ऐसी पद्धति है जिसमें सभी वैकल्पिक सुरक्षा विधियों व तकनीकों का प्रयोग करते हुए नाशीजीवों की संख्या को आर्थिक क्षति स्तर के नीचे रखा जाता है। इसके अन्तर्गत शस्य क्रियायें, यान्त्रिक नियन्त्रण, जैविक नियन्त्रण आदि सुरक्षा उपायों विशेषकर जैव कीटनाशियों/फफूँदनाशियों तथा वानस्पतिक स्रोत से प्राप्त नाशीजीव नाशी के प्रयोग पर बल दिया जाता है।

हम सभी अवगत है कि नाशीजीवों का प्रकोप हमारी फसलों पर कृषि उद्भव के साथ ही प्रारम्भ हो गया। ध्यान देने योग्य बात यह है कि जब हमारी खेती पारम्परिक विधि से होती थी तब उसमें विविध फसलों का समावेश तथा स्थानीय फसल प्रबन्धन क्रियाओं का उपयोग होने से फसलों में कीट–व्याधियों का प्रकोप अत्यन्त ही कम होता था। परन्तु बढ़ती हुई जनसंख्या के भरण–पोषण हेतु उत्पादन व उत्पादकता बढ़ाने के लिए फसलों की उन्नतिशील प्रजातियों एवं रसायनों के अन्धाधुन्ध प्रयोग के फलस्वरुप खर–पतवार एवं कीट–व्याधियों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो गयी। कृषि में हुए इस परिवर्तन के कारण किसानों की कृषि रसायनों पर निर्भरता अत्यधिक बढ़ गयी। हरित क्रान्ति के पश्चात् आम जनमानस की यह अवधारणा बन गयी कि कृषि रसायनों का प्रयोग जितनी अधिक मात्रा में किया जायेगा उसी समानुपात में उत्पादन भी बढ़ जायेगा। चूँकि उस समय हमारा पूर्ण प्रयास खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि करना था शायद इसीलिए हम पर्यावरण संरक्षण व टिकाऊ कृषि के बारे में अधिक सोच नहीं पाये।

अस्सी के दशक में कृषि रसायनों के दुष्प्रभावों के बारे में ज्यादातर लोग अवगत होने लगे क्योंकि कीटों की बहुत सी प्रजातियों में प्रतिरोधक क्षमता का विकास हो गया जिससे कि कीट–व्याधियों के नियंत्रण हेतु पूर्व में प्रयोग की जाने वाली रसायनों की मात्रा में भी वृद्धि करनी पड़ी। तीव्र जहरीले रसायनों के अंधाधुन्ध प्रयोग से कृषि तन्त्र में कई समस्यायें एक साथ ही दृष्टिगत होने लगीं जैसे कि द्वितीयक कीटों का प्रादुर्भाव, कीट पुनरुत्थान, मित्र कीटों की संख्या में कमी, कीटभक्षी पक्षियों का विलोपन, भूमि एवं भूमिगत पानी का प्रदूषण आदि। नब्बे के दशक में थोड़ा विलम्ब से ही सही पर कृषकों की बेहतर समझ के अनुसार विस्तृत रुप से आई.पी.एम. का विकास किया गया। प्रारम्भ में यह सोचा गया कि आई.पी.एम. केवल सभी वैकल्पिक सुरक्षा उपायों को एक साथ लागू कर देने से पूर्ण हो जायेगा परन्तु विभिन्न प्रयोगों द्वारा बाद में यह सिद्ध हुआ कि विभिन्न

विभिन्न नाशीजीवों द्वारा फसलों में होने वाली हानि